

No-057546 20-63-14



वर्ष २३

शुभारंभ करी  
का  
शुभारंभ करी

अ

दृ

ब

र



६

७

२

अंक १२

— बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी द्वारा मान्य जैन शोध-केन्द्र —

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान

जैन इंस्टिट्यूट

आई. टी. आई. रोड, वाराणसी-५

सम्पादक

डा० मोहनलाल मेहता

सह-सम्पादक

श्री हरिहर सिंह

श्री धन्यकुमार राजेश

प्रस्तुत अंक में :

१. महावीर-वाणी—	१
२. पञ्चमचरित—परंपरा, संदर्भ और शिल्प—डा० देवेन्द्र कुमार जैन	३
३. जैन तर्कशास्त्र में सन्निकर्ष-प्रमाणवाद—श्री लालचन्द्र जैन	८
४. जैन शिल्पकला और मथुरा—कुमारी सुधा जैन	१६
५. विश्वेश्वर-कृत शृंगारमंजरी-सङ्कट का अनुवाद —डा० के० आर० चन्द्र	२०
६. गर्भापहरण-सम्बन्धी स्पष्टीकरण—श्री रतिलाल म० शाह	२४
७. अपनी बात—	२८
८. साहित्य सत्कार	३२

वार्षिक

एक प्रति

छः रुपये

पचास पैसे

यह आवश्यक नहीं कि लेखक के विचारों से सम्पादक अथवा संस्थान सहमत हो।



जैनविद्या का मासिक

वर्ष २३

अक्टूबर १९७२

अंक १२

## महावीर-वाणी

( १ )

अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली ।  
अप्पा कामदुहा धेणू, अप्पा मे नन्दनं वणं ॥

अपनी आत्मा ही नरक की वैतरणी नदी तथा कूट शाल्मली वृक्ष है ।  
अपनी आत्मा ही स्वर्ण की कामदुघा घेनु तथा नन्दन वन है ।

( २ )

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य ।  
अप्पा मित्तममित्तं च दुप्पट्टिय सुप्पट्टिओ ॥

आत्मा ही अपने दुःखों और सुखों का कर्ता तथा भोक्ता है । अच्छे मार्ग पर चलनेवाला आत्मा अपना मित्र है और बुरे मार्ग पर चलनेवाला आत्मा अपना शत्रु है ।

( ३ )

अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो ।  
अप्पा दन्तो सुही होइ, अस्सि लोए परत्थ य ॥

अपने-आपको ही दमन करना चाहिए । वास्तव में अपने-आपको दमन करना ही कठिन है । अपने-आपको दमन करनेवाला इस लोक में तथा परलोक में सुखी होता है ।

( ४ )

वरं मे अप्पादन्तो, संजमेण तवेण य ।  
माहं परेहि दम्मन्तो, बन्धणेहि वहेहि य ॥

दूसरे लोग मेरा बध बन्धनादि सेदमन करें, इसकी अपेक्षा तो मैं संयम और तप के द्वारा अपने-आप ही अपना (आत्मा का) दमन करूँ, यह अच्छा है ।

( ५ )

जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जए जिणे ।  
एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ ॥

जो वीर दुर्जय संग्राम में लाखों योद्धाओं को जीतता है, यदि वह एक मात्र अपनी आत्मा को जीत ले तो यह उसकी सर्वश्रेष्ठ विजय है ।

( ६ )

अप्पाणमेव जुज्झाहि,, किते जुज्झेण बज्झओ ।  
अप्पाणमेव अप्पाणं, जइत्ता सुहेहेए ॥

अपनी आत्मा के साथ ही युद्ध करना चाहिए, बाहरी स्थूल शत्रुओं के साथ युद्ध करने से क्या लाभ ? आत्मा के द्वारा आत्मा को जीतनेवाला ही वास्तव में पूर्ण सुखी होता है ।

( ७ )

पंचिन्दियाणि कोहं, माणं मायं तहेव लोहं च ।  
दुज्जयं चैव अप्पाणं, सव्वमप्पे जिए जियं ॥

पांच इन्द्रियां, क्रोध, मान, माया, लोभ तथा सबसे अधिक दुर्जय अपनी आत्मा को जीतना चाहिए । एक आत्मा के जीत लेने पर सब कुछ जीत लिया जाता है ।

★

# पउमचरिउ—परंपरा, संदर्भ और शिल्प

डा० देवेन्द्रकुमार जैन

अपभ्रंश के प्रसिद्ध कवि स्वयंभू के जीवन और समय के विषय में अधिक जानकारी नहीं मिलती। फिर भी उनका समय आचार्य रविषेण (ई० ६७६) और अपभ्रंश के कवि पुष्पदंत ( ई० ६५६ ) के बीच, ६वीं सदी के मध्य में स्वीकार किया जाता है। स्वयंभू ने कर्णाटक में रहकर अपनी काव्य साधना की। उस समय कर्णाटक और महाराष्ट्र में घनिष्ठ संबंध था। इसलिए यह संभव है कि वे महाराष्ट्र से वहाँ प्रव्रजित हुए हों। स्व० पंडित राहुल सांकृत्यायन के अनुसार स्वयंभू कन्नौज के मूल निवासी थे, जो राष्ट्रकूट नरेश ध्रुव द्वारा कन्नौज पर कभी आक्रमण किये जाने पर उसके अमात्य रयडा धनञ्जय के साथ दक्षिण भारत चले आये। परन्तु यह एक आधारहीन अनुमान है। दक्षिण भारत में आर्यभाषाओं ( संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश ) में साहित्य-सृजन की पुरानी परंपरा रही है। अतः इस आघार पर कि दक्षिण भारतीय उत्तर भारत की भाषा में कैसे कविता कर सकता है ? स्वयंभू को प्रवासी बताना ठीक नहीं। स्वयंभू गृहस्थ थे। उनकी कम से कम दो पत्नियाँ आदित्यम्मा और अमृतम्मा थीं जो उनकी काव्यसाधना में सहायक थीं। तीन पीढ़ियों से स्वयंभू का धराना साहित्य साधना करता आ रहा था। उनकी मृत्यु के बाद त्रिभुवन स्वयंभू ने उनकी कुछ अधूरी रचनाओं को पूरा किया।

स्वयंभू के साहित्य में दक्षिण की संस्कृति और भौगोलिक तथ्यों का उल्लेख है। उनकी पत्नियों का नामकरण दक्षिण की नदियों के नाम पर होना, कवि का प्रत्यक्ष परिचय प्रमाणित करने के लिए काफी है कि स्वयंभू दक्षिण के थे। अपभ्रंश उस समय एक व्यापकतर काव्य-भाषा थी, जिसमें प्रांतीय शब्दों का प्रयोग खुलकर हो रहा था। 'पउमचरिउ' में मराठी और कन्नड के शब्द हैं।

कवि की तीन उपलब्ध रचनाओं में ( पउमचरिउ, रिट्टुणेमिघरिउ और

स्वयंभूच्छंद) 'पउमचरिउ' सबसे अधिक महत्त्व रखता है। क्योंकि वह विमलसूरि के 'पउमचरिउ' और रविषेण के 'पद्मपुराण' के बाद, रामकथा पर आधारित महत्त्वपूर्ण जैन काव्य है। वह एक ऐसी भाषा और शैली में रचित है जो आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं की पूर्वजा है और जिसकी शैली में हिंदी का महान् रामकाव्य 'रामचरितमानस' लिखा गया। जैन पौराणिक काव्य होते हुए भी उसमें कवि की जीवनदृष्टि उदार है। वह नैतिक मूल्यों से शून्य आध्यात्मिक जीवन को महत्त्व नहीं देता। सामाजिक संबंधों और स्त्री के प्रति भी कवि का दृष्टिकोण उदार था।

'पउमचरिउ' की रामकथा की परंपरा प्रारंभ करते हुए स्वयंभू अपने पाठकों को अंतिम तीर्थंकर महावीर के समवसरण में ले जाता है। जहाँ पर जैन धर्म का अनुयायी राजा श्रेणिक गौतम गणधर से निम्नलिखित प्रश्न करता है :

क्या कछुआ धरती धारण कर सकता है ? यदि राम तीनों लोकों में व्याप्त हैं तो रावण सीता का अपहरण कैसे कर सका ? अपने प्रभु राम से लड़ते हुए खरदूषण मुक्ति कैसे पा सकता है ? सुग्रीव ने अपनी स्त्री के लिए अपने भाई बालि का वध कैसे किया ? क्या बानर पहाड़ उठा सकते हैं ? क्या रावण के दस मुख और बीस हाथ हो सकते हैं ? क्या कुम्भकर्ण छः माह तक निद्रा ले सकता है ? विभीषण ने मंदोदरी से विवाह किस प्रकार किया ?

अन्य मत में वर्णित रामकथा के इन प्रसंगों पर राजा श्रेणिक प्रश्न चिन्ह लगाकर जैनमतानुसार कथा सुनाने की जिज्ञासा भी प्रकट करता है। और गौतम गणधर राजा की जिज्ञासा के अनुसार रामकथा कहते हैं। श्रेणिक ने जिन प्रश्नों या विपरीत बातों का उल्लेख किया है, वे वाल्मीकि रामायण में पाई जाती हैं। लगता है कि श्रेणिक के समय ( जो वस्तुतः जैन रामकाव्य के लेखकों का समय है ) राम का आख्यान अधिक लोकप्रिय था, और अपनी धार्मिक विचारधारा व्यक्त करने का एक लोकप्रिय माध्यम भी। जब कोई माध्यम लोकप्रिय होता है, तो उसमें प्रक्षेप की गुञ्जाइश बढ़ जाती है। यह दावा न तो आदि कवि और न कोई दूसरा कवि ही कर सकता है कि उसकी रामकथा ही मूल रामकथा है और उसमें अवान्तर प्रसंग समाविष्ट नहीं हुए। विभिन्न प्राचीन रामकथा काव्यों का तुलनात्मक अध्ययन कर रामकथा का मूल अंश निश्चित किया जा सकता है। राजा श्रेणिक के प्रश्नों से यह स्पष्ट है कि 'वाल्मीकि रामायण' उस समय लोकप्रिय थी। और वही मात्र आधार थी।

परन्तु उसकी कुछ बातों को जैन लेखक ठीक नहीं समझते थे जैसा कि उक्त प्रश्नों से स्पष्ट है। यही कारण है कि जैन लेखकों ने रामकथा ( वाल्मीकि रामकथा ) की उन बातों की नई व्याख्या की जो उन्हें अविश्वसनीय लगती थीं, जैसे—बानरों और राक्षसों के बारे में विचित्र कल्पनाएँ। उन्होंने उन प्रसंगों को रूपान्तरित किया जो नैतिक दृष्टि से ठीक नहीं थे, जैसे—बालि द्वारा अपने भाई की पत्नी का अपहरण, विभीषण द्वारा मंदोदरी से विवाह आदि। इसके अतिरिक्त मूल रामकथा के साथ जैन कवि ऐसे उपाख्यान जोड़ देते हैं जो विशुद्ध रूप से जैन धर्म का समर्थन करते हैं। जैन रामायण की मूल स्थापना यह है कि 'रामकथा' वस्तुतः मानव जाति और विद्याधर जातियों के अपने-अपने मूल्यों के संघर्ष की कथा है। राक्षस जाति मानव जाति से ही निकली है और बानर जाति राक्षस वंश की एक शाखा है। जैन रामकथा लेखकों के अनुसार ये जातियाँ जैन थीं। हालांकि इनका आचार-विचार उतना परिष्कृत नहीं था। स्वयंभू को यह रामकथा गौतम गणधर इन्द्रभूति, सुधर्मा, प्रभव, कीर्तिधर और उत्तरवाग्मी से होती हुई आचार्य रविषेण के माध्यम से प्राप्त होती है। परन्तु इतने लम्बे समय में इस रामकथा की रूपरेखा क्या थी? इसकी कोई जानकारी नहीं मिलती। यदि हम राजा श्रेणिक के प्रश्न को सही मान लें, तो इसका अर्थ यह होगा कि भ० महावीर के समय आदि कवि की रामकथा लोक में प्रसिद्ध थी। जब कि ऐतिहासिक दृष्टि से आदि कवि महावीर के बहुत बाद हुए। वस्तुतः राजा श्रेणिक का उक्त प्रश्न एक प्रश्नरूढ़ि है, क्योंकि केवल परंपरा से संबंध जोड़ने के लिए प्रत्येक जैन पुराणकार अपनी काव्यकथा का संबंध राजा श्रेणिक और गौतम गणधर से जोड़ता रहा है।

जहाँ तक वाल्मीकि रामायण का सम्बन्ध है, उसमें नारदमुनि ने सनत्कुमार को वह रामायण सुनाई थी, जो वाल्मीकि मुनि ने कही थी। इससे स्पष्ट है कि नारद मुनि के समय एक दूसरी ऐसी रामायण थी, जो वाल्मीकि रामायण से भिन्न थी। नारदमुनि आदि कवि को संक्षेप में रामकथा सुनाते हैं। उसके बाद आदि कवि योगबल से पूरी कथा का सक्षात्कार करते हैं। इसका अर्थ है कि आदि कवि को परंपरा से रामकथा का संक्षिप्ततम रूप ही मिला था। बाद में उन्होंने उसका विस्तार किया। नारदमुनि की रामकथा रामराज्य तक सीमित थी। उसमें उत्तरकाण्ड की घटनाएँ नहीं थीं। नारद के अनुसार राम ने ११०० वर्ष तक राज्य किया। उसमें जो घटनाएँ

हुई, उनका वर्णन आदि कवि ने उत्तरकांड में स्वतंत्र रूप से किया। इससे यह निष्कर्ष निकालना गलत नहीं है कि रामायण के उत्तरकांड की रचना बाद में हुई। राम का पूर्वचरित जितना परंपरागत था उतना उत्तरचरित नहीं। इस प्रकार आदि काव्य की रामकथा विकसित होती रही। जैन परम्परा में एक दूसरी रामकथा भी प्रसिद्ध है। इसके लेखक आचार्य गुणभद्र हैं। इसके आधार पर अपभ्रंश कवि पुष्पदन्त ने अपने महापुराण के अन्तर्गत रामकाव्य लिखा। परन्तु आदि कवि की रामकथा अधिक लोकप्रिय रही।

स्वयंभू कवि ने अपने रामकथाकाव्य को नदी का रूपक दिया है। यह रूपक उनकी सृजन चेतना, काव्य के रूप और शिल्प को समझने में बहुत सहायक है। स्वयंभू भी यह स्वीकार करते हैं कि वर्द्धमान ( महावीर ) के मुखरूपी पर्वत से निकलनेवाली यह 'रामकहानदी' क्रम से चली आ रही है। यह अक्षररूपी जलसमूह से सुंदर है। इसमें अच्छे अलंकारों और छंदों के मत्स्य हैं। यह लम्बे समासों के प्रवाहों से अंकित है। संस्कृत और प्राकृत के तट हैं, दोनों तट देशी भाषा से उज्ज्वल हैं; कहीं-कहीं कठोर घन शब्दों की चट्टानें हैं तो कहीं-कहीं अर्थबाहुल्य की लहरों से वे दिखाई नहीं देती। यह सर्गों के तीर्थों से प्रतिष्ठित है। रूपक में रामकहानदी की जो विशेषताएं बताई गई हैं, वे वस्तुतः स्वयंभू के रामकथाकाव्य की हैं। भगवान् के मुंह से जो रामकथा निकली होगी या जिसे विभिन्न गणधरों ने अपने ज्ञान में देखा होगा, वह अपने शिल्प में निश्चित रूप से भिन्न थी। क्योंकि महावीर के समय अपभ्रंश भाषा का प्रश्न ही नहीं था। इस कथन के बहाने कवि अपनी रचना की विशेषताएं बताना चाहता है। काव्यरूपी नदी के लिए पहली आवश्यकता है कि उसमें शब्दरूपी जल हो। शब्द काव्य का शरीर है। जब शब्दजल ही नहीं होगा, तो अलंकार और छंदरूपी मत्स्य रहेंगे कहाँ? कवि का काव्य सरोवर नहीं, प्रत्युत नदी है जिसमें लम्बे समासों का प्रवाह उसे गतिशील रखता है। पहले कवि शब्दसमूह के जल का उल्लेख कर चुका है, परन्तु 'देशी-भाषा' कहकर वह बताना चाहता है कि उसमें देशी शब्दों का जल है, केवल तट संस्कृत और प्राकृत के हैं। कवि ने अपनी रामकहारूपी सरिता को रड्ढाबद्ध शैली में निबद्ध किया है। 'पउमचरिउ' के शिल्प में उक्त सभी विशेषताएं स्पष्टरूप से लक्षित की जा सकती हैं। देशीभाषा से यहाँ कवि का अभिप्राय उस भाषा से है जो उस समय की सामान्य काव्य भाषा रही हो और जिसमें 'ग्रामीण' उक्तियाँ नहीं हों।

कवि अपने शिल्प के बारे में दो और महत्वपूर्ण संकेत करता है। ये संकेत क्रमशः २३वीं और ४०वीं संधि में हैं। इनमें वह राम-रावण युद्ध को सबसे अधिक महत्त्व देता है, फिर वह राघवचरित में दशरथ की तपस्या, सबका उद्धार, सम्यग्दृष्टि, भरत की कथा, जिनवर के गुणों का कीर्तन और सीता के सतीत्व का महत्त्व महत्त्वपूर्ण मानता है। ये दोनों ही संकेत स्वयंभू के रामकहाकाव्य के मोड़ और महत्त्व के सूचक हैं, न कि लम्बे अन्तराल के, जैसा कि कुछ आलोचकों का तर्क है। क्योंकि अभी तक तो कवि ने केवल पूर्व परम्परा का उल्लेख किया था, अब वह उस रामायण को सुनाना चाहता है जिसमें 'राम-रावण' युद्ध हुआ। इसी संदर्भ में कवि अपने युग में प्रचलित काव्य शैलियों को गिनाता है। ये शैलियाँ हैं : चक्रलक कुलक, स्कंधक, पवनोद्धत, रासा लुब्धक मञ्जरिक, विलासिनी नक्कुड, शुभ छंदों और शब्दों से युक्त खडइड। इस संबंध में यदि खोज-बीन की जाय तो निश्चय ही कई नए तथ्यों पर प्रकाश पड़ने की संभावना है। ये छंदों के नाम हैं या काव्य-शैलियों के ? कवि इनके आधार पर कवियों के अनेक भेद होने का उल्लेख करता है। स्वयंभू अपनी शैली को रड्ढावद्ध कह चुका है, अतः इन भेदों को गिनाकर वह राघवचरित प्रारंभ कर देता है जो त्रिभुवन में विश्रुत है।



# जैन तर्कशास्त्र में सन्निकर्ष-प्रमाणवाद

श्री लालचन्द्र जैन

भारतीय दर्शन के इतिहास पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि ज्ञान की उपलब्धि ही भारतीय दार्शनिकों का मुख्य उद्देश्य रहा है। यही कारण है कि विभिन्न दर्शन सम्प्रदाय के ऋषि-मुनियों ने सत्य की ज्ञानोपलब्धि करके जंगल में मंगल मनाया। भारतीय दर्शन में ज्ञान कितना महत्त्वपूर्ण विषय है इसकी जानकारी इस बात से होती है कि प्रत्येक दार्शनिक ने इसके प्रत्येक अंग का [ यथा-प्रमाणस्वरूप, भेद, विषय आदि का ] सूक्ष्म विवेचन खंडन-मंडन शैली से विशद रूप में किया है। इसका कारण यह है कि प्रमेय-तत्त्व-मीमांसा की व्यवस्था प्रमाण पर ही निर्भर करती है। प्रमाण को व्युत्पत्ति से भी यही सिद्ध होता है। आ० पूज्यपाद ने कहा भी है—

‘प्रमिणोति प्रमीयतेऽनेन प्रमितिमात्रं वा प्रमाणम्।’<sup>१</sup> अर्थात् जो अच्छी तरह जानता है या जिसके द्वारा अच्छी तरह से ज्ञान होता है अथवा प्रमिति मात्र ही प्रमाण है।

‘प्रमाकरणं प्रमाणं’ प्रमाण का यह साधारण लक्षण प्रायः सभी दार्शनिकों को मान्य है, एवं यह भी मान्य है कि प्रमा का करण वही हो सकता है जो साधकतम हो अर्थात् जिसके होने पर कार्य होता हो और जिसके न होने पर कार्य न होता हो। लेकिन प्रमा का वह साधकतम करण क्या है जिसे प्रमाण कहा जा सके, इस विषय में काफी विवाद है। दार्शनिकों ने अपने-अपने सिद्धान्त के अनुसार विभिन्न करण मानकर अपने सिद्धान्त की तार्किक पुष्टि की है और अन्य मतों का खंडन भी तार्किक शैली से किया है।<sup>२</sup>

१. सर्वार्थसिद्धि, १.१०, पृ० ६६.

२. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, १.३.१०.३.

न्यायमंजरीकार ने कारकसाकल्य को, सांख्यों ने श्रोत्रादिक इन्द्रियवृत्ति को, मीमांसकों ने ज्ञातृव्यापार को, बौद्धों ने निर्विकल्पकज्ञान को, वात्स्यायन और उद्योतकराचार्य आदि नैयायिकों ने सन्निकर्ष को, जैनाचार्यों ने ज्ञान को करण<sup>१</sup> माना है। भारतीय दर्शन में जैन दर्शन ही एक विशिष्ट दर्शन है जिसमें ज्ञान को प्रमाण माना गया है। यही कारण है कि अन्य सभी दार्शनिकों ने एक स्वर से ज्ञान-प्रमाणवाद की समीक्षा की है। इन लोगों का तर्क है कि ज्ञान तो प्रमाण का फल है। उसे प्रमाण कैसे माना जा सकता है क्योंकि प्रमाण और उसके फल को भिन्न-भिन्न होना चाहिए। यदि ज्ञान को प्रमाण मान लिया जाय तो उसके फल का अभाव हो जायेगा।<sup>२</sup>

सन्निकर्षवादियों ने भी ज्ञानप्रमाणवाद की समीक्षा की है। 'सन्निकर्ष' का अर्थ होता है समीपता-निकटता अर्थात् इन्द्रिय और पदार्थों का संबंध। इस सिद्धान्त के अनुसार इन्द्रियाँ अपने विषय को दूर से न जानकर उन्हें छूकर ही जानती हैं। अर्थात् सन्निकर्ष ही प्रमाण है क्योंकि उसके होने पर अर्थो-पलब्धि होती है और सन्निकर्ष के अभाव में उपलब्धि नहीं होती है।<sup>३</sup> यदि सन्निकर्ष को प्रमाण न मानकर ज्ञान को प्रमाण माना जाय तो संशय, विपर्यादि को भी प्रमिति में साधकतम होने के कारण प्रमाण मानना पड़ेगा<sup>४</sup> जो किसी भी दार्शनिक को मान्य नहीं है।

नैयायिकों का तर्क है कि यदि इन्द्रियाँ समस्त पदार्थों को बिना सन्निकर्ष के जानती हैं तो समस्त पदार्थों की जानकारी सदैव रहनी चाहिए एवं चक्षुरादि इन्द्रियों को सूक्ष्म अन्तरित विप्रकृत व्यवहित पदार्थों की जानकारी होनी चाहिए। किन्तु ऐसा होता नहीं है।<sup>५</sup>

उनका दूसरा तर्क यह है कि इन्द्रियाँ कुठारादिवत् करण-साधन हैं। अतः जिस तरह कुठारादि लकड़ी आदि पदार्थों को छूकर ही छेदन भेदन

१. देवागम, कारिका १०१; न्यायदीपिका, पृ० ६.
२. सर्वार्थ० १.१०.
३. न्यायकुमुदचन्द्र, भाग १, पृ० २८; न्यायवार्तिक, पृ० ५-६.
४. तत्त्वार्थश्लो० १.३.१०.४.
५. न्यायकु०, भाग १, पृ० २८.

करते हैं उसी प्रकार स्पर्शन इन्द्रिय की तरह सभी इन्द्रियाँ पदार्थों को छूकर ही जानती हैं।<sup>१</sup>

जैन दार्शनिकों के अनुसार सम्यग्ज्ञान ही प्रमाण हो सकता है, न कि सन्निकर्ष। यही कारण है कि पूज्यपाद<sup>२</sup>, अवलंकरदेव<sup>३</sup>, विद्यानन्द<sup>४</sup> और प्रभाचन्द्र<sup>५</sup> आदि तार्किकों ने सन्निकर्षवाद की विशद समीक्षा की है।

पूज्यपाद का मत है कि सन्निकर्ष को प्रमाण मानने से सर्वज्ञता का लोप हो जायेगा।<sup>६</sup> क्योंकि इन्द्रियाँ तो सम्मुख स्थित पदार्थ को ही जानती हैं।<sup>७</sup> इन्द्रियों का सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थों के साथ सन्निकर्ष न होने के कारण कोई सर्वज्ञ कैसे हो सकता है? क्योंकि जो सूक्ष्मादि पदार्थों को जानता है, वही सर्वज्ञ कहलाता है।<sup>८</sup> भट्ट अकलंक देव<sup>९</sup> का भी यही मत है। आचार्य प्रभाचन्द्र का भी मत है कि जिस प्रकार हम लोगों की इन्द्रियों के साथ परमाणु आदि पदार्थों का सन्निकर्ष नहीं होता है उसी प्रकार सर्वज्ञ की इन्द्रियों का भी उसके साथ सन्निकर्ष नहीं हो सकता है।<sup>१०</sup> वर्तमानकालीन पदार्थों को जाननेवाला सर्वज्ञ नहीं होता है। अतः सन्निकर्षवाद में सर्वज्ञता का अभाव होने से सन्निकर्ष को प्रमाण मानना उचित नहीं है।

आत्मा को सर्वव्यापक मानकर समस्त पदार्थों के साथ सन्निकर्ष मानना भी ठीक नहीं है। क्योंकि व्यापक आत्मा में निष्क्रियता सिद्ध होती है और

१. न्यायमंजरी, पृ० ७३, ४७६.

२. सर्वार्थ० १.१०.

३. तत्त्वार्थराजवार्तिक, पृ० ५१-२.

४. तत्त्वार्थश्लो० १.३.१०.३-३४.

५. न्यायकु०, भाग १, पृ० २६-३३; प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ० १४-१८; प्रमाण-प्रमेयकलिका, पृ० १५-१६.

६. सर्वार्थ०, पृ० ६७.

७. सम्बद्धं वर्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिभिः।—अष्टसहस्री, पृ० ४५.

८. आत्ममांसा, कारिका ५.

९. तत्त्वार्थश्लोक० १.१०.१६.

१०. न्यायकु०, भाग १, पृ० ३२.

निष्क्रिय आत्मा में पापादि कुछ भी संभव नहीं है ।<sup>१</sup> अतः आत्मा को सर्वव्यापक मानकर सर्वज्ञता मानना ठीक नहीं है । दूसरी बात यह है कि सर्वव्यापक आत्मा का समस्त पदार्थों के साथ सन्निकर्ष रहता है इसलिए इन्द्रियों से उनका सदैव सन्निकर्ष होने से सदैव समस्त पदार्थों का ज्ञान होना चाहिए किन्तु ऐसा होता नहीं है ।<sup>२</sup> पूज्यपाद का तर्क है कि यदि सन्निकर्षवादी सन्निकर्ष को प्रमाण और पदार्थ के ज्ञान को फल मानते हैं तो प्रमाण के फल ज्ञान को आत्मा की तरह इन्द्रिय और पदार्थ दोनों में भी रहना चाहिए ।<sup>३</sup> अकलंकदेव ने भी यही तर्क तत्त्वार्थवार्तिक में दिया है ।<sup>४</sup>

आ० प्रभाचन्द्र ने इस मत की समीक्षा करते हुए कहा है कि सन्निकर्ष की प्रमाणता प्रमा के प्रति साधकतम करण से है । अर्थात्—सन्निकर्ष के होने पर घटपटादि की प्रमिति होती और उसके न होने पर घटादि का ज्ञान नहीं होता, किन्तु ऐसा नहीं होता है । कहीं-कहीं पर सन्निकर्ष के होने पर भी प्रमिति नहीं होती । उदाहरणार्थ चक्षु का संयोग घट की तरह आकाश से होने पर भी आकाश की प्रमिति नहीं होती है ।<sup>५</sup> इसी प्रकार जहां पर सन्निकर्ष नहीं होता है वहां भी प्रमिति हो जाती है । प्रमाणप्रमेयकलिका<sup>६</sup> में भी यही तर्क दिया है । पूज्यपाद का मत है—‘समस्त इन्द्रियों से सन्निकर्ष भी नहीं होता है क्योंकि चक्षु और मन प्राप्यकारी नहीं हैं ।’<sup>७</sup> अतः सन्निकर्ष को प्रमाण मानना उचित नहीं है । किन्तु इसके विपरीत ज्ञान ही प्रमाण है क्योंकि ज्ञान के होने पर प्रमिति होती है और उसके अभाव में नहीं होती है । इस प्रकार ज्ञान साधकतम होने से ज्ञान ही प्रमाण है, सन्निकर्ष नहीं ।<sup>८</sup>

आ० प्रभाचन्द्र ने सन्निकर्षवाद के खंडन में सन्निकर्षवादियों के सामने विकल्प शैली अपनाते हुए निम्न विकल्प प्रस्तुत किये हैं :

१. सन्निकर्ष मात्र प्रमाण है अथवा (२) सन्निकर्ष विशेष ?

१. तत्त्वार्थवा०, पृ० ५१.

२. वही, १.१०.१८.

३. सर्वार्थ०, पृ० ६८.

४. १.१०.१९.

५. न्यायकु०, भाग १, पृ० २६; प्रमेयकमल०, पृ० १४.

६. प्रमाणप्रमेय०, पृ० १६.

७. सर्वार्थ०, पृ० ६८.

८. न्यायकु०, भाग १, पृ० ३०.

सन्निकर्ष मात्र प्रमाण नहीं है—यदि सन्निकर्षवादी सन्निकर्ष मात्र को प्रमाण मानते हैं तो उनका ऐसा मानना ठीक नहीं है क्योंकि संशय आदि ज्ञानों में भी सन्निकर्ष रहता है इसलिए उन्हें भी प्रमाण मानना पड़ेगा। फलतः सन्निकर्ष मात्र को प्रमाण मानना युक्तिसंगत नहीं है ( न्यायकु० पृ० ३० ) ।

सन्निकर्ष विशेष भी प्रमाण नहीं है—अब यदि सन्निकर्ष विशेष को प्रमाण माना जाय तो ऐसा मानना भी तर्कसंगत नहीं है क्योंकि इसमें भी निम्न दो विकल्प होते हैं—विशेष क्या है ? क्या विशिष्ट कारण से उत्पन्न होना विशेष है ? अथवा विशिष्ट प्रमा को उत्पन्न करना ? यदि विशिष्ट कारण से उत्पन्न होने का नाम विशेष सन्निकर्ष है तब जिस प्रकार घटादि के सन्निकर्ष में विशिष्ट कारण का सद्भाव होता है उसी प्रकार विशिष्ट कारण का सद्भाव आकाश के सन्निकर्ष में भी होता है। अतः घटादि की तरह आकाश में भी सन्निकर्ष को प्रमाण मानना चाहिए, किन्तु मानते नहीं है। अतः विशेष का तात्पर्य विशिष्ट कारण से उत्पन्न होना नहीं है। इसी प्रकार विशेष का तात्पर्य विशिष्ट प्रमा को उत्पन्न करना भी नहीं है। क्योंकि सन्निकर्ष प्रमा की उत्पत्ति में साधकतम नहीं होता है, यह पहले ही कहा जा चुका है। यदि साधकतम होता तो वह कारण बतलाना चाहिए जिसके कारण वह घट की प्रमिति को उत्पन्न करता है।

सन्निकर्षवादियों का कथन है कि योग्यता के अनुसार कार्य होते हैं। चक्षु में घट को जानने की योग्यता है किन्तु आकाश में प्रमिति उत्पन्न करने की योग्यता नहीं है। यही कारण है कि चक्षु के साथ आकाश का सन्निकर्ष होने पर भी आकाश की प्रमिति नहीं होती है।

प्रत्युत्तर में प्रभाचन्द्र प्रश्न करते हैं कि क्या शक्ति का नाम योग्यता है ? अथवा ज्ञाता के प्रतिबन्ध के अपाय का नाम योग्यता है ?<sup>१</sup>

शक्ति का नाम योग्यता नहीं है—शक्ति को योग्यता नहीं कहा जा सकता है क्योंकि शक्ति या तो अतीन्द्रिय होगी या सहकारी कारखों के सन्निघानरूप।

अतीन्द्रिय शक्ति को न्यायवैशेषिक मानते ही नहीं है। यदि सहकारी कारणों के सन्निकृष्टानरूप शक्ति को स्वीकार करें तो सहकारी कारण क्या हैं इसके संदर्भ में निम्नलिखित विकल्प होते हैं<sup>१</sup> :

१. क्या विषयगत अतिशय विशेष, २. करण पाटव, ३. धर्म विशेष, ४. अघर्म प्रक्षय, ५. द्रव्य, ६. गुण, ७. कर्म।

विषयगत अतिशय विशेष को सहकारी कारण नहीं माना जा सकता है क्योंकि रूपादि समवाय प्रमिति की उत्पत्ति के प्रति कारण नहीं होता है अन्यथा रूपादि समवायरहित गुण, कर्म, और सामान्य में प्रमिति नहीं होती। अब यदि दृश्यतारूप विषयगत अतिशय विशेष को सहकारी कारण माना जाय तो आकाश में भी प्रमिति होनी चाहिए, क्योंकि आकाश में ईश्वर-प्रत्यक्षरूप दृश्यता विद्यमान है। किन्तु आकाश में प्रमिति नहीं होती है। अतः विषयगत अतिशय विशेष को सहकारी कारण नहीं माना जा सकता है।

करण पाटव को भी सहकारी कारण नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि घटादि की तरह आकाश में भी करण पाटव विद्यमान रहता है। इसी प्रकार धर्म विशेष भी आकाशादि के साथ चक्षु का संयोग होने में सहकारी होता है। अतः आकाश में भी प्रमिति होनी चाहिए। फलतः धर्म विशेष को भी सहकारी कारण नहीं माना जा सकता है।

द्रव्य सहकारी कारण इसलिए नहीं है, क्योंकि नित्यव्यापी द्रव्य को सहकारी कारण मानने पर चक्षु और आकाश के सन्निकर्ष में भी दिशा, काल और आत्मा विद्यमान रहती है। इसलिए आकाश में प्रमिति होनी चाहिए, किन्तु होती नहीं है। इसी प्रकार से अनित्यव्यापी द्रव्य को भी सहकारी कारण मानने पर मन, चक्षु और प्रकाश में तीनों आकाश के साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष में रहते हैं। अतः आकाश का ज्ञान होना चाहिए, किन्तु होता नहीं है। फलतः द्रव्य को सहकारी कारण नहीं माना जा सकता है।

इसी प्रकार गुण का भी आकाश में सद्भाव होता है इसलिए गुण को सहकारी कारण नहीं कहा जा सकता है।

अब यदि कर्म को सहकारी कारण माना जाय तो प्रश्न होता है कि कौन कर्म सहकारी है—अर्थगत अथवा इन्द्रियगत। अर्थगत कर्म प्रमिति की उत्पत्ति

में सहायक नहीं है अन्यथा स्थिर पदार्थों की उपलब्धि नहीं हो सकेगी। इन्द्रिय-गत नयन उन्मीलन आदि इन्द्रियकर्म आकाश के सन्निकर्ष में रहता है, तो भी आकाश का ज्ञान नहीं होता है। अतः कर्म को भी सहकारी कारण नहीं माना जा सकता है। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि शक्ति का नाम योग्यता नहीं है।

यदि सन्निकर्षवाद में ज्ञाता के प्रतिबंधों के अपाय का नाम योग्यता माना जाय तो जैनमत को भी स्वीकार है। क्योंकि जिसको जहाँ भी जिस प्रकार के प्रतिबंधों का नाश हो जाता है उसको वहाँ उस प्रकार की प्रमिति उत्पन्न हो जाती है।<sup>१</sup> परीक्षामुख<sup>२</sup> में भी कहा है—अपने आवरणकर्म के क्षयोपशम रूपी योग्यता से ही पदार्थों की व्यवस्था होती है।

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में आ० विद्यानन्द ने कहा है कि चेतनस्वरूप आत्मा के अर्थग्रहण करने की योग्यता को सन्निकर्ष माना जाय तो इसमें कोई दोष नहीं है। अतः योग्यतारूप सन्निकर्ष से भिन्न वंशेषिकों द्वारा स्वीकृत सन्निकर्ष को प्रमाण मानना उचित नहीं है।<sup>३</sup>

ज्ञान को प्रमाण मानने में नैयायिकों का तर्क था कि फल का अभाव हो जायेगा। लेकिन उनका यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि जैन दर्शन में दो प्रकार का प्रमाण-फल माना गया है :

१. प्रत्यक्षफल      २. परम्पराफल

अज्ञान की निवृत्ति हो जाना यह प्रमाण का प्रत्यक्षफल है। परम्पराफल तीन प्रकार का है : १. त्यागरूप, २. ग्रहणरूप, ३. उपेक्षारूप। माणिक्य-नन्दी ने कहा भी है : “अज्ञाननिवृत्तिर्हीनोपादानोपेक्षास्य फलम् ।”<sup>४</sup>

आ० समन्तभद्र ने भी यही कहा है :

उपेक्षाफलमाऽऽद्यस्य      शेषस्याऽऽदान-हानधीः ।<sup>५</sup>  
पूर्वावाऽज्ञाननाशो वा सर्वस्याऽस्य स्वगोचरे ॥

- 
१. न्यायकु०, भाग १, पृ० ३१; प्रमेयकमल०, पृ० १६.
  २. परीक्षामुखसूत्र, २.६.
  ३. तत्त्वार्थश्लोक० १.३.१०.११-१२, ३१-३३.
  ४. परीक्षामुखसूत्र, ५.१.
  ५. देवागम, कारिका १०२.

अन्त में यह कहा जा सकता है कि जिनका परस्पर संबंध होता है अर्थात् इन्द्रिय, मन और पदार्थ ये सब जड़स्वरूप हैं इसलिए उनका संबंध भी जड़ ही होगा। क्योंकि कारण के अनुसार ही कार्य होता है। जड़ या अचेतन या अज्ञान के द्वारा अज्ञान की निवृत्ति नहीं हो सकती है। अन्यथा घट वगैरह भी जड़ होने से उनसे भी अज्ञान की निवृत्ति माननी पड़ेगी। अंधकार को उसका विरोधी प्रकाश ही नष्ट कर सकता है। इसी प्रकार अज्ञान को दूर करने के लिए ज्ञान ही समर्थ हो सकता है। अतः ज्ञान ही प्रमिति को उत्पन्न कर सकता है, अज्ञानस्वरूप सन्निकर्ष नहीं क्योंकि सम्यग्ज्ञान के होने पर ही प्रमिति होती है और उसके अभाव में नहीं होती है। फलतः ज्ञान को ही साधकतम होने के कारण प्रमाण मानना चाहिए। ज्ञान को प्रमाण मान लेने पर प्रमाण के फल का अभाव भी नहीं रह सकता है। क्योंकि प्रत्यक्ष और परस्पर दोनों प्रकार का फल मौजूद रहता है। अतः सम्यग्ज्ञान ही प्रमाण है।



# जैन शिल्पकला और मथुरा

कुमारी सुधा जैन

जैन कला-कृतियों में मथुरा का स्थान अग्रगण्य है। सर्वप्रथम मथुरा के शिल्पियों ने जैन तीर्थंकरों की मूर्तियाँ बनाईं। मूर्तियाँ दो रूप में हैं—१. खड्गासन कायोत्सर्ग, २. पद्मासन। मूर्ति के दोनों हाथ अंक के मध्य एक-दूसरे पर रखे हुए हैं, जिनकी उपमा प्रफुल्ल कमल से दी गई है। नासाग्र दृष्टि, उष्णीष-रहित मस्तक तथा वक्ष पर श्रीवत्स का मांगलिक चिह्न है। ७वीं शती के बाद से लांछन दिखने लगते हैं, अतः ७वीं शताब्दी के पूर्व चौकी पर उत्कीर्ण लेखों द्वारा ही तीर्थंकर की पहचान की जाती है। आदिनाथ के कन्धे लटों से तथा पार्श्वनाथ के मस्तक के ऊपर सर्प का आच्छादन है।

कुषाणकालीन प्रतिमाओं पर मंगल चिह्न प्रगट हैं। मूर्तियों के वक्षस्थल के मध्य में श्रीवत्स का चिह्न है। तीर्थंकरों की हथेलियों पर चक्र और पैर के तलुओं पर त्रिरत्न और चक्र इस काल में अपरिहार्य रूप से मिलते हैं। राजकीय संग्रहालय, लखनऊ के पुरातत्व विभाग में प्रदर्शित तीन प्रतिमाओं के पैर की अंगुलियों पर मंगल चिह्न स्पष्ट हैं। इनमें एक प्रतिमा में हाथ के अंगूठे पर त्रिरत्न और मध्यमिका पर स्वस्तिक बना है। दूसरी प्रतिमा पर अंगूठे का त्रिरत्न अस्पष्ट है किन्तु शेष चिह्न धिसे या दूटे हैं। तीसरी प्रतिमा के हाथों पर चिह्नों के अवशेष हैं।

कुषाणकालीन पार्श्वनाथ की मूर्तियों के मस्तक के ऊपर सर्पों के मुखों पर ऊपर की ओर मांगलिक चिह्न दिखते हैं। इस पद्धति से रचित मूर्ति मथुरा संग्रहालय में सुरक्षित है, जिसमें श्रीवत्स, पूर्णकुम्भ, स्वस्तिक, मत्स्य, त्रिरत्न तथा शराव संपुट के दर्शन होते हैं।

मथुरा के जैनियों में तीर्थंकरों की व्यूह-पूजा प्रचलित थी, ऐसा सर्वतोभद्र

प्रतिमाओं की प्राप्ति से प्रमाणित होता है। इसके लिये तीर्थंकर श्वभूतनाथ, सुपाश्वनाथ, पाश्वनाथ और महावीर चुने गये।

कंकाली टीले के दूसरे स्तूप से प्राप्त मूर्तियाँ चार प्रकार की हैं—१. दिगम्बरत्व लक्षण स्पष्ट कायोत्सर्ग प्रतिमाएँ, २. पद्मासन, ३. सर्वतोभद्रिका कायोत्सर्ग मुद्रा, ४. सर्वतोभद्रिका पद्मासन। चौकियों पर कुषाण संवत् ५ से ६५ तक के लेख हैं। आदिनाथ के कन्ये लटों से विभूषित हैं और सुपाश्वनाथ के मस्तक पर सर्पों का आटोप है। इन पर श्रावक गृहपति भी बनाये गये हैं जो तीर्थंकर की पूजा के लिये आये हुए मालूम पड़ते हैं।

गुप्तकालीन कुछ मूर्तियों में सौंदर्य, गतिशीलता और अलंकरण हैं। महावीर की प्रतिमा उत्थित पद्मासन में है। इसके मस्तक के पीछे पद्मातपत्र और ऊपर उल्लेदार केश हैं। अंगों में लोच है तथा मुख पर दिव्य छवि है।

मानव मुखाकृति भङ्गिमायुक्त है। चौकी पर उत्कीर्ण गृहस्थ, स्त्री-पुरुष और बाल-बुद्ध माधुर्य से श्रोत-श्रोत प्रतीत होते हैं। इनको देखकर ऐसा आभास होता है मानो शिल्पकार ने मानव में प्राण डाल दिये हों। तोरण पर कमाञ्चों के संपुञ्जन में शोभायात्रा का अंकन विशेष हृदयग्राही है।

तीर्थंकर प्रतिमाओं के वक्ष के मध्य श्रोवत्स और मस्तक प्रभामण्डलयुक्त है। किन्तु सर्पों का फण्टोप होने पर प्रभामण्डल नहीं होता है। चौकियों पर जिनमूर्ति, सिंह, चक्र या चक्रध्वज का चिह्न है। कहीं-कहीं मूर्तियों का नाम भी उल्लिखित है। उदाहरणार्थ—मथुरा संग्रहालय के चौकी सं० ४६० पर इसे 'वर्धमान' कहा है जो कुषाण सं० ८४ में स्थापित हुई थी। श्रोवत्स का चिह्न हाथीगुम्फा-अभिलेख के प्रारंभ में बना है और यह केवल जैन तीर्थंकर प्रतिमाओं पर ही पाया जाता है, बुद्ध की प्रतिमा पर नहीं। जैनों के 'रायपसेणिय सुत्त' नामक ग्रन्थ में मंगलचिह्नों की तालिकाएँ प्राप्त हुई हैं, जिनमें इसे मंगलभित्तिचित्र कहा गया है, उन चिह्नों में मुख्य ये हैं—स्वस्तिक, श्रोवत्स, नन्दावर्त, एक पात्र को ढूँढ़ कर दूसरा पात्र या वर्धमानक, भद्रासन, कलश, मत्स्य और दर्पण।

**स्तूप**—मथुरा के जैन-स्तूप की कथा 'विविध-कल्प-सूत्र' में उल्लिखित है। 'जैन-सूत्रों' में भी मथुरा में देवनिर्मित 'रत्न-स्तूप' का वर्णन मिलता है। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने 'भारतीय-कला' नामक पुस्तक में लिखा है कि 'देव-निर्मित स्तूप' नामक एक पुराना स्तूप मथुरा में था जो संभवतः मिट्टी के शूहे के

रूप में मौर्यकाल से भी पुराना रहा हो। बाद में उस पर इष्टिका चित्त (ईंटों का कंचुक) किया गया। श्री तारानाथ का मत है कि मौर्यकालीन कला यक्षों द्वारा और उससे पूर्वकाल में देवों द्वारा निर्मित हुई। बृहत्कल्पभाष्य (५.१५३६) में वर्णन है कि जिस प्रकार 'धर्म-चक्र' के लिए उत्तरापथ और 'जीवन्त-स्वामी' प्रतिमा के लिए कोशल प्रसिद्ध है, वैसे ही मथुरा 'देव-निर्मित' स्तूप के लिए ख्यातिप्राप्त है। 'व्यवहार-भाष्य' (५.२७-२८) में भी इस स्तूप की प्राचीनता का वर्णन है कि एक बार किसी क्षपक (जैन-धमण) ने मथुरा में आकर तपस्या की। देव ने प्रसन्न हो वरदान मांगने को कहा। परन्तु क्षपक ने देव से कहा—तुम असंयती हो, तुमसे मेरा प्रयोजन सिद्ध न होगा। इस पर देवता ने एक रत्नमय स्तूप का निर्माण किया। कालान्तर में उस स्तूप को बौद्ध अपना बताने लगे। बौद्धों के साथ जैनों का छः मास तक विवाद चला। जैन संघ ने क्षपक से देव का आसन कम्पायमान करने को कहा। आसन कम्पित होने पर देव ने उपस्थित होकर कहा—तुम लोग जाकर राजा के पास निवेदन करो कि यदि कल स्तूप पर रक्त पताका फहरेगी तो वह बौद्धों का है और यदि शुक्ल पताका फहरेगी तो वह जैन-संघ का है।

देवता ने स्तूप पर शुक्ल पताका फहरा दी। अतः राजा ने स्तूप जैनों को दे दिया।

दिगम्बर सम्प्रदाय के ग्रन्थ 'बृहत्कोष' में मथुरा के जैन स्तूप की दूसरी कथा प्राप्त होती है।

कनिष्क आदि पुरातत्त्ववेत्ताओं ने प्रमाणित किया है कि मथुरा में स्थित 'कंकाली-टीला' ही प्राचीन काल का जैन-स्तूप है। यहाँ से अनेक मूर्तियाँ, आयागपट्ट और उत्कीर्ण लेख प्राप्त हुए हैं। उत्कीर्ण लेखों पर कुषाण संवत् में तिथियाँ दी हैं। गच्छ, पुर, गण, कुल और शाखाओं के जो नाम मिलते हैं, वे ही 'भद्रबाहु' के कल्पसूत्र की 'स्थविरावलि' में आये हैं। अतः स्पष्ट है कि ईसवी सन् की प्रथम शताब्दी में मथुरा में जैनियों का काफी प्रभाव था।

**आयागपट्ट**—आयागपट्ट जैनियों की मौलिक देन है। 'आयाग' शब्द संस्कृत आर्यक से निकला है। 'आंघ्र-स्तूप' में इसे 'आयक' कहा है। आयाग शब्द का अर्थ है पूजा-शिलाएँ। पहले तो इन्हीं की पूजा की जाती थी किन्तु कालान्तर में स्तूप-पूजा के निमित्त इन पर पत्र-पुष्प चढ़ाया जाने लगा। कंकाली-टीले से प्राप्त एक तोरण-खंड पर ऐसे आयागपट्टों का अंकन है जिन पर उपासक पुष्प चढ़ा रहे हैं।

आयागपट्ट में प्रतिमा-पूजन और प्रतीक-पूजन दोनों ही विधियों का समन्वय दिखलाई पड़ता है। प्रतीक-पूजन की दृष्टि से चक्रपट्ट, स्वस्तिकपट्ट और स्तूप-पट्ट अथवा चैत्यपट्ट का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

चक्रपट्ट के मध्य १६ अरे होते हैं और यह तीन मण्डलों से घिरा होता है। प्रथम घेरे में १६ त्रिरत्न चिह्न हैं, दूसरे में अष्ट कुमारिकाएँ आकाशगति से पुष्प व माला अर्पित कर रही हैं तथा तीसरे घेरे में एक भारी माला या महापुण्डरीक सज सँजोई हुई है। चौकोर पट्ट के चारों कोनों में चार महोरग मूर्तियाँ किकर मुद्रा में चक्र धारण किये हैं। माला के चारों ओर चौखटे में श्रोवत्स, त्रिरत्न आदि धार्मिक चिह्न हैं।

स्वस्तिक या सोत्थिय पट्ट के बीच में छत्र के नीचे तीर्थंकर की पद्मासन अवस्था की मूर्ति है। उनके चारों ओर स्वस्तिक की चार भुजाएँ हैं। तीर्थंकर के मण्डल की चार दिशाओं में चार त्रिरत्न दिखाये गये हैं।

महास्वस्तिक की चार भुजाओं में मीन-मिथुन, वंजयन्ती, स्वस्तिक एवं श्रोवत्स ये चार धार्मिक चिह्न हैं। बाहर मण्डल में वेदिका के अन्तर्गत बोधिवृक्ष, स्तूप, एक अस्पष्ट वस्तु और १६ विद्याधर हैं। बाहर चारों कोनों में किकर मुद्रा में चार महोरग हैं। चौखटे के एक ओर अष्ट मांगलिक चिह्न हैं।

चैत्यपट्ट के दो नमूने मथुरा में हैं। अमरावती में भी एक चैत्यपट्ट मिला है ( लूडर्स सूची, सं० १२२५ )। लखनऊ संग्रहालय सं० २५५ पर एक स्तूप सोपान, तोरण, वेदिका, दो पार्श्व स्तम्भ, शालभञ्जिका और बुबुलाकृति अंडवाला है, जिसके कारण उसकी संज्ञा चैत्यपट्ट पड़ी थी।

लखनऊ संग्रहालय सं० जे २४६ में रखे आयागपट्ट का स्थान सर्वोपरि कहा गया है। तीर्थंकर मूर्तियुक्त होने से इसे अर्हतपट्ट या तीर्थंकरपट्ट संज्ञा से विभूषित किया गया। तीर्थंकर मूर्ति पद्मासन अवस्था में मध्य में है तथा चारों ओर त्रिरत्न हैं। बाहरी ओर चौखटे पर अष्ट मंगल—मीन-मिथुन, देव गृह विमान, श्रोवत्स, रत्नपात्र, त्रिरत्न, पुष्पस्रक, वंजयन्ती और पूर्णघट है। दोनों ओर चक्रध्वज व हस्तिध्वज है। जिसके नीचे सिंह संघाट अर्थात् चार-चार सिंह पीठ सटाकर बैठे हैं।

जैन तीर्थंकर की प्रतिमा का निर्माण कार्य सर्वप्रथम मथुरा के शिल्पकारों ने ही किया। अतः मथुरा को जैनकला का केन्द्र कहना अत्युक्ति नहीं है।



# विश्वेश्वरकृत शृंगारमञ्जरी-सट्टक का श्रनुवाद

डा० के० आर० चन्द्र

( गतांक से आगे )

( उपवन में आये हुए राजा प्रवेश करते हैं । )

राजा—किसी ने उचित ही कहा है, जैसे कि यहाँ पर वस्तुओं का अस्तित्व न होते हुए भी और अनुभव से दूर होते हुए भी यह निद्रा उनका बोध कराती है ( क्योंकि वह ) अदृष्ट का सर्जन करने की क्षमता (माहात्म्य) रखती है ॥१५॥

( प्रवेश करके )

विदूषक—प्रिय मित्र सुसंगत ही कहते हैं । अन्यथा कैसे हो सकता है ? मैंने नींद में निर्मल ( अरज-अंबर ) वस्त्र परिधान किये हुए आपको आकाश गंगा के प्रवाह में ऐरावत ( अश्रमु नामक हस्तिनी का प्रिय-गजेन्द्र ) पर बँठे हुए देखा है ॥१६॥

राजा—( ध्यान से देखकर ) क्या मित्र गीतम आ गया है ? मित्र, इधर बँठो ।

विदूषक—जैसी मित्र की आज्ञा । ( उसी प्रकार करता है । )

राजा—मित्र गीतम, विधि की दृष्टता तो देख । तभी तो—सब लोग आनंद में हैं । तब मेरा मन किसी अज्ञात और दुर्लभ मानवी के दर्शन से दिन-रात विकारों के बोझ से भारी होता जा रहा है ॥१७॥

विदूषक—स्वप्न के स्वभाव की चर्चा के प्रसंग से निश्चय ही मुझे (आपकी

बात ) सामान्यतः समझ में आ गयी है । अब आप उसके बारे में कुछ विशेष कहें ।

**राजा**—मित्र, घटित घटना के विषय में तुम्हें बतलाता हूँ । गत रात जब रात्रि के कुछ ही क्षण अवशेष थे उस समय एकाग्र चित्त होकर मैं सो रहा था कि मैंने एक अत्यन्त सुन्दर स्त्री के दर्शन किये जो एक अद्वितीय लावण्य की विशिष्ट खान थी । वह दोषों की स्वाभाविक विरोधिनी, सकल नारी-जाति के गर्व की उत्पत्ति का निरोध करनेवाली और अन्य किसी नायिका के साथ मदन विश्व विजय कर सकता हो इस बात को भ्रममूलक सिद्ध करने वाली थी । अप्सराओं के सौन्दर्य-दर्शन से मुनिगणों के मन में विक्षोभ उत्पन्न करना तथा चिरकाल से संचित धर्म का नाश करना ही मात्र उसके दर्शन का फल हो ऐसी वह उद्बोधणा कर रही थी । वह अन्य स्त्रियों के मन में बसी हुई सौन्दर्य-धारणा को भूठा सिद्ध करने वाली थी और उत्कृष्ट सौन्दर्य निर्माण करने में ब्रह्मा के द्वारा प्रयुक्त श्रेष्ठ विज्ञान ( बुद्धि-कौशल ) के नमूने के समान थी ।

**विदूषक**—ओह ! आश्चर्य । तब फिर.....

**राजा**—मानो मुझे जन्म का फल मिल गया हो, सचमुच देवेन्द्र के राज्य में मुझे प्रतिष्ठा मिल गयी हो और ब्रह्म के साथ लीन होने पर जिस आनन्द के अंकुर की अनुभूति होती है मानो वैसी ही स्थिति मैंने प्राप्त कर ली थी ॥१८॥

**विदूषक**—अपूर्व वस्तु के दर्शन से आनंद होना स्वाभाविक है । तब फिर...

**राजा**—उसकी अन्य विशेषता भी प्रियमित्र को विदित हो जाय । तो आगे—वह सूखे घास के समान पीली थी, हथेली पर गाल रखे हुए थी और पहले से ही इच्छित वस्तु की अप्राप्ति के कारण शून्यमना थी । उसके अधर फीके पड़ गये ( म्लानता लिए हुए ) थे, उसका उष्णभाव समझ में आता था और उसके निःश्वासों की वृद्धि हो रही थी जिसको उरोजों के कम्पन से नापा जा सकता था ॥१९॥

**विदूषक**—शेष सब समझ में आ गया । अत्यंत कीमती पुण्यकार्यों से श्रेष्ठ बने व्यक्ति के साथ जो उसके हृदय का प्रिय है, भेंट नहीं होने से उस बाला का हृदय संताप से तड़प उठा है ॥२०॥

**राजा**—मित्र, तूने अपना गौतमपन ( स्वभाव ) दिखा दिया ।

**विदूषक**—( गर्व के साथ ) फिर आगे ।

राजा—फिर महारानी का पानदान धारण करनेवाली वसंततिलका ने उससे इस प्रकार कहा—‘हे सखि ! संध्याकाल हो गया है, इसलिए अंदर जायेंगे’ ।

( तब ) वह चंचल हरिणाक्षी हथेली को जमीन पर रखकर किसी न किसी प्रकार पैरों को स्थिर करती हुई लंबे-लंबे निःश्वास छोड़ती हुई उठी ॥२१॥

विदूषक—ऐसी हालत से प्रतीत होता है कि उसका मदनविकार चिरकाल से पोषित है । और आगे—

राजा—फिर उसी प्रसंग में अन्य कार्यवश घूमते हुए मौका मिलने पर मैं भी उसके दृष्टिपथ का पथिक हो गया । तब फिर—उस तन्वांगी ने रम्य कुमुद पुष्प के गुच्छ के समान बड़े-बड़े और शरद् श्रुतु के चन्द्रमा की ज्योत्स्ना के समान अपने उज्ज्वल नेत्रों के अमृतमय कटाक्ष निर्भरों से मुझे भिगो दिया ॥२२॥

विदूषक—यह विचार करने की वस्तु है कि उसका तुम्हारी तरफ देखना प्रेमवश था अथवा उपेक्षा करने में असमर्थ होने के कारण ।

राजा—फिर वह अपने करतल से वसंततिलका के हाथ का सहारा लेकर अति मंदगति से उस स्थान से थोड़ी सी हटी ॥२३॥

और फिर—चन्द्रमा की दिशा में अपने मुख को मोड़कर और जिस दिशा में चक्रवाक पक्षी के समान अपने स्तन थे, उस दिशा से विपरीत होकर उसने अपने मन में चिरकाल से संचित प्रेम की उत्कृष्टता को व्यक्त करनेवाले विलक्षण ( मनोहर ) कटाक्ष-पात मुझ पर किये ॥२४॥

विदूषक—अकस्मात् मिले हुए व्यक्ति पर किया गया दृष्टिपात बिल्कुल प्रेम-सूचक नहीं होता, फिर भी उसे टालना नहीं चाहिए क्योंकि मुँह फिराकर बैठने और मुड़-मुड़ कर देखने में प्रेम के सिवाय अन्य किसी बात की संभावना ( शंका ) नहीं करनी चाहिए ॥२५॥

राजा—तब वसंततिलका के साथ अपना इस प्रकार का प्रसंग कोई पार्श्वस्थ व्यक्त महारानी को नहीं कह दे, इस शंका से और उसके विरह के कारण ज्योंही दुःखी हो रहा था त्योंही प्रातःकाल में बजने वाले सूर्य को सुनकर मैं जाग उठा ।

विदूषक—कहा जाता है कि ऐसे समय में देखा गया स्वप्न तुरंत फलदायी होता है ।

राजा—उसका नाम ही मालूम नहीं तो देश आदि की बात ही क्या ? प्राप्त करने का कोई उपाय नहीं है । स्वप्न मात्र से कैसा लाभ ? ॥२६॥

विदूषक—भावी सम्बन्ध में जिन-जिन लोगों का जहाँ पर प्रयोजन होता है वे दैवयोग से अकस्मात् ही वहाँ पर आकर मिल जाते हैं ( उपस्थित हो जाते हैं ) ॥२७॥

राजा—उसके साथ वार्तालाप हो या नहीं, वह यहाँ पर आये या नहीं, उसका मिलन नेत्रों का विषय बनकर स्फुट हो या नहीं, ( लेकिन ) उसके कारण ही मेरा मन अन्य विषय में नहीं लगता है । उष्ण स्पर्शवाले निःश्वास निकल रहे हैं और सारा शरीर जल रहा है ॥२८॥

और भी इसी उद्यान में ( वह ) चन्द्रमुखी ( मेरे ) नेत्रों का विषय बनी थी ऐसा सोचकर मैं फिर आज उन्मत्त होकर यहाँ ही आया हूँ ॥२९॥

( प्रवेश करके )

वसन्ततिलका—महाराज की जय हो, जय हो ।

राजा—( आशंका के साथ स्वयं ही ) महारानी की विश्वासपात्रिणी वसन्ततिलका यहाँ पर कैसे ! उसने इस बात को सुना तो नहीं । ओह ! स्वप्न की बातचीत तो एकान्त में हुई थी । ( सबके सामने प्रकट में ) वसन्ततिलके, इधर आने का क्या प्रयोजन है ?

वसन्ततिलका—महाराज के दृष्टिपथ में उपस्थित रहने के सिवाय सेवक-जन का और क्या काम है ?

विदूषक—तो भी विशेष प्रयोजन के बारे में पूछी जा रही हो !

वसन्ततिलका—तो अन्य प्रसंग को रहने दीजिए ( दूसरा कोई काम नहीं था ) ।

राजा—( स्वयं ) हमारे द्वारा चलायी गयी बात का निर्देश इसने कैसे किया ?

विदूषक—एक प्रसंग चलाये जाने पर दूसरे प्रसंग का निषेध तो उपयुक्त है । ( परन्तु ) अभी ही आने के कारण तुम्हारे सामने तो कोई प्रसंग चलाया ही नहीं गया है ।

( क्रमशः )

# गर्भापहरण-सम्बन्धी स्पष्टीकरण

श्री रतिलाल म० शाह

‘श्रमण’ के जुलाई, १९७२ के अंक में ‘गर्भापहरण : एक समस्या’ शीर्षक मेरा लेख प्रकाशित हुआ था। उसपर प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए श्री अग्रचन्द नाहटा ने अगस्त के अंक में लिखा—“लेखक की भाषा आपत्तिजनक है। किसी भी शास्त्रीय विषय पर लिखते समय भाषा पर बहुत संयम रखना आवश्यक होता है।” यह पढ़कर मुझे आश्चर्य हुआ और अपने लेख को पुनः तीन-चार बार पढ़ा। लेकिन मुझे कुछ भी ऐसा नहीं मालूम पड़ा जैसा कि उन्होंने प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए संकेत किया है। अब जबकि प्रतिक्रिया व्यक्त हो चुकी है तो उसका स्पष्टीकरण करना भी आवश्यक हो गया है। मैं सिर्फ यही कहूँगा कि अहिन्दी भाषी होने से प्रयत्नपूर्वक लिखने के बावजूद भी सम्भव है योग्य शब्दों का चयन न कर सका होऊँ। अतः भाषागत निर्बलता को पंडित-जन क्षमा करेंगे, ऐसी आशा रखता हूँ। सम्प्रति मैं उन आपत्तियों का समाधान कर रहा हूँ जो प्रतिक्रिया स्वरूप प्रस्तुत की गई हैं।

नाहटा जी ने सर्वप्रथम शिल्प सम्बन्धी तर्क प्रस्तुत किया है। उन्हीं के शब्दों में—“एक प्राचीन पाषाण शिल्प मथुरा के कंकाली टोले से प्राप्त जैन पुरातत्त्व में मिला है। इससे केवल ग्रन्थों के आधार से ही नहीं, पुरातत्त्व के आधार से भी इस घटना की पुष्टि होती है।” इस कथन से उनका आशय क्या है? मैं समझ नहीं सका। मैं तो यही समझता हूँ कि घटना शिल्प में उतर सकती है, शिल्प से घटना सिद्ध नहीं होती। और यदि शिल्प को आधारभूत स्वीकार किया जाय, तो वि० सं० १९३ वर्ष पूर्व श्रमणबेलगोला के शिलालेखों में चतुर्थ शिलालेख की शब्दावलि द्रष्टव्य है।<sup>१</sup> इस शिलालेख से चन्द्रगुप्त के गुरु भद्रबाहु स्वामी दिगम्बरात्मनाय के थे, यह सिद्ध होता है। तो क्या भद्रबाहु

१. वर्यः कथन्नुमहिमा मणभद्रबाहोः, मोहो रु मत्त मद मर्दन वृत्तवाहोः।

यच्छिष्यवाप्त सुकृतेन च चन्द्रगुप्तः, सुश्रूयते स्म सुचिरं वन देवताभिः ॥

स्वामी गर्भापहरण को स्वीकृत कर सकते थे ? जबकि दिगम्बर परम्परा इस मान्यता को तिरस्कृत करती है । इसका आशय मात्र इतना है कि किसी घटना या कल्पना की जब पुष्टि होती है तब वह शिल्प में उतर सकती है । इससे कंकाली टीले की बात प्रमाणित नहीं हो जाती । शिलालेख की बात भी विवादास्पद रहती है । 'जैन साहित्य का इतिहास' ( पृ० ११४ ) पुस्तक में लेखक ने लिखा है कि वि० सं० ११४ के आस-पास कंकाली टीला अस्तित्व में आया था । अर्थात् गर्भापहरण की कथा से तीन-चार सौ वर्ष पीछे । इससे यह प्रमाण नहीं बनता ।

यदि कल्पसूत्र की बात हो, तो मैं इससे अनभिज्ञ नहीं हूँ । उसमें विस्तार से यह कथा आई है । परन्तु यक्षा के अध्ययन प्रगट होने के बाद ६-१० साल पीछे कल्पसूत्र की रचना हुई थी । क्योंकि जिस समय यक्षा की घटना को स्थान मिला उस समय भद्रबाहु स्वामी नेपाल में योग साधना में प्रवृत्त थे । दुष्काल के कारण पठन पाठन बन्द हो जाने से बहुत से शास्त्रपाठ विच्छिन्न हो गये थे । एक मात्र भद्रबाहु स्वामी १४ पूर्वों के ज्ञाता थे । इसीलिए शास्त्रज्ञान को अविच्छिन्न रखने के लिए पटना के संघ ने भद्रबाहु स्वामी को आमन्त्रित किया और न आने की दशा में संघ से बहिष्कृत करने की धमकी दी । ऐसी स्थिति में भद्रबाहु स्वामी ने संदेश भेजा कि मैं तो नहीं आ सकता परन्तु मुनियों को यहाँ भेजने पर उन्हें पाठ देता रहूँगा । ५०० मुनि नेपाल गये । परन्तु सिवाय स्थूलभद्र के सभी वापस लौट गये । स्थूलभद्र ने चौदह पूर्वों का ज्ञान प्राप्त कर लिया था परन्तु चार पूर्वों का अर्थ ज्ञात करना शेष था । इसी समय भद्रबाहु स्वामी का योग पूर्ण हो जाने से वे सभी के साथ पटना आये । तब अपने भाई स्थूलभद्र को यक्षा—आवक की मृत्यु से लेकर अध्ययन मिलने तक की बात सुनाई । इससे सिद्ध होता है कि तब तक नये अध्ययनों की बात कोई जानता नहीं था । कल्पसूत्र की रचना बाद में होने से गर्भापहरण की जो बात यक्षा से चली थी, वह उन्होंने स्वीकृत की होगी । इससे कल्पसूत्र का आधार भी टिक नहीं सकता । आश्चर्य की बात तो यही है कि कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य ने गर्भापहरण की बात अपने ग्रंथों में विस्तार से लिखी है परन्तु उन्हें वह तर्क-संगत प्रतीत नहीं हुई । इसी कारण उन्होंने अपनी वृद्धावस्था में लिखे हुए अपने अन्तिम ग्रन्थ योगशास्त्र में यह बात हटा दी और भगवान् को स्वर्ग से सीधा त्रिशला की कुक्षि में आया हुआ बताया । रहा दिगम्बर शास्त्रों का प्रश्न, उनमें तो इसकी कल्पना तक भी नहीं है । इन सब प्रबल प्रमाणाँ से

सिद्ध होता है कि—गर्भापहरण की बात यक्षा की सिर्फ कल्पना ही है। इस कल्पना ने जैनधर्म में वर्णाश्रमधर्म का—अर्थात् उच्चत्व-नीचत्व का भाव प्रविष्ट करा कर उसके असली मानव समानता के सिद्धान्तों को चौपट कर दिया है—यह मेरा मतव्य है। अब रही बात सूयगडांग और समवायांग की, इस सन्दर्भ में यह कहना उचित होगा कि आगमों में गर्भापहरण की कोई बात नहीं आती। इससे अनुमान किया जाता है कि जो एक दो शब्द गर्भापहरण के नाम से आये हैं, वे पीछे से जोड़े गये हैं। यही स्थिति अन्यत्र भी पहले से चली आती है। अन्यथा विक्रम की पांचवीं शताब्दी तक पैदा हुए निह्त्तवों के नाम गणधर रचित आगमों में कहीं से आये होंगे ? यदि मान लिया जाय कि आगमों में यह बात पहले से थी तो भगवान् सीमंघर स्वामी को अध्ययन रूप में भ० महावीर के जीवन, ज्यवन-गर्भापहरण से लेकर कैवल्यज्ञान प्राप्ति तक की—जिसमें मुख्यतया भगवान् के सगे सम्बन्धियों की लंबी सूची दी है, और देवकृत उत्सवों का वर्णन है, ऐसी कथा क्यों कहनी पड़ी ? क्या जनता १६० वर्ष तक भगवान् के जीवन से अज्ञात थी ? उसी प्रकार दशवैकालिक की चूलिका में २५ गाथाएँ हैं, उन सभी में सिर्फ जो साधुवेष छोड़कर अपने घर वापिस लौटे थे—उनकी निन्दा है।

इससे इस अनुमान को बल मिलता है कि यह अध्ययन भगवान् का दिया हुआ नहीं अपितु यक्षा का दिया हुआ है। यदि भगवान् का दिया हुआ होता तो उसमें कोई गंभोर तद्व-चर्चा की बात होती। अर्थात् इस अध्ययन के नाम से गर्भापहरण की बात प्रविष्ट कराने के लिए अध्ययनों की योजना बनाई गई थी। और इस कल्पना की परिपुष्टि होने के बाद आगमों में भी यह पीछे से आ धमकी होगी।

सम्भव है आपत्तिकार यह कहें कि शास्त्रपाठों में शंका करना, शास्त्र को उड़ा देना जैसा है। अतः जब तक कोई अधिक पुष्ट प्रमाण न मिले गर्भापहरण की बात इसी दृष्टि से स्वीकार करनी होगी। परन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि गर्भापहरण की बात पर जो हड़ हैं, वे भी महावीर को ब्राह्मण घोषित करने में हिचकिचाते हैं। जो सत्य है उसे स्वीकार करने में आपत्ति क्यों ?

पुत्र पिता के वीर्य से पैदा होने के कारण पिता से पहचाना जाता है। महत्त्व बीज का है—खेत का नहीं। हाँ, खेत अच्छा हो तो फल अच्छे पकते

हैं। बाकी डांगर के धरू की तरह खेत बदल देने से डांगर से डांगर ही पकता है—इससे गेहूँ नहीं पकता।

इस घोषणा से एक बड़ा लाभ तो यही होगा कि इससे जैनधर्म की असलियत प्रगट हो जायगी। क्योंकि तीर्थंकरत्व वीतरागत्व पर अवलंबित है न कि क्षत्रियत्व पर। जैनधर्म चतुर्विधसंघ व्यवस्था पर टिका है न कि वर्णाश्रम धर्म पर। वैदिकों के प्राबल्य के कारण पीछे से जैनधर्म में वर्णधर्म का महत्व बढ़ता चला गया और इससे तीर्थंकर क्षत्रिय होता है—ऐसी मान्यता प्रबल बनी। परन्तु भ० महावीर तो सिर्फ वीतरागत्व पर जोर देते थे न कि वर्ण-जाति पर। यदि ऐसा न होता तो वे अपनी बागडोर ब्राह्मणों के हाथों में नहीं सौंपते।

ऋषभदेव क्षत्रिय नहीं थे और महावीर भी नहीं थे। वे ब्राह्मण थे। यह तथ्य सिद्ध करता है कि वर्णाश्रम धर्म असली जैनधर्म को मंजूर नहीं था। धर्म को तो मात्र चारित्र्य और वीतरागत्व ही मंजूर है। ऐसा न होता तो हरिकेशी, भैतार्य, आर्द्रकुमार, रोहिण्योयादि हीनवर्ग के लोग जैन-दीक्षा नहीं पाते।

बाकी भगवान् को दो बाप वाला कहना भगवान् का बड़ा अपमान और घोर आशातना है। गुजरात में प्रचलित धार्मिक पाठ्य पुस्तकों में उन्हें दो बाप वाला कहा है। इतना ही नहीं, परीक्षा में यह प्रश्न भी पूछा जाता है। इसी कारण से भगवान् को एक ही पिता और वह भी ऋषभदेव को घोषित करना चाहिए। हाँ सिद्धार्थ को पालक पिता कहा जा सकता है। परन्तु पिता तो एक ही को कहना चाहिए। आशा रखता हूँ कि नाहुटाजी भगवान् को ब्राह्मण घोषित करने की हिम्मत दिखायेंगे, जो सभी दृष्टियों से सत्य भी है।



# आपनी बात



## जैन साहित्य में न्याय-व्यवस्था

जैन साहित्य के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्राचीनकालीन न्याय प्रणाली आज की अपेक्षा सरल, निष्पक्ष, सुविधापूर्ण और सीमित व्यय साध्य थी। यद्यपि राजतंत्र में राजा प्रमुख एवं शक्ति सम्पन्न शासक होने के नाते सभी प्रशासनिक और न्यायिक अधिकारों का इच्छानुसार प्रयोग कर सकता था, फिर भी धर्मशास्त्रों से आबद्ध राजव्यवस्था में इसकी गुंजाइश नाम मात्र की थी। ऐसा इसलिए भी कि न्यायकार्य एक सभा के माध्यम से होता था। वैदिक काल में इसका नाम नरिष्ठा था। आ० सोमदेव ने सभा और सदस्यों को सभ्य कहा है ( नीति० २८.३-७ )। सम्राट् इच्छकहा में न्यायालय को पंचकुल और उसके सदस्यों को कणिक कहा गया है। इस समय के न्यायालयों की स्थिति लगभग गणराज्यों में प्रचलित न्यायालयों की तरह थी। इतना अवश्य है कि गणराज्यों में जहाँ विभिन्नस्तर के न्यायालयों से अपराधी गुजरता था वहाँ वह राजतंत्र में इस कठिनाई से बच सकता था। और कभी-कभी तो सीधे राजा के समक्ष भी उपस्थित हो सकता था ( ज्ञाताधर्मकथा )। सामान्यतया अभियोग ( स्तर के अनुसार ) पूग, जनपद अथवा इसी प्रकार के न्यायालयों में क्रमशः पेश किये जाते थे।

गण न्यायालयों की स्थिति लगभग आज के न्यायालयों की तरह थी। दीवानी ( घोरता ), फौजदारो ( आपत्ति ) मामलों के लिए पृथक्-पृथक् न्यायालय थे एवं उनसे प्राप्त निर्णयों पर उच्च न्यायालय में अपील करने का अधिकार था। प्रधान न्यायाधीश के निर्णय पर सन्देह की गुंजाइश होने पर उसे अट्टकुल न्यायालय में प्रस्तुत किया जा सकता था। प्रारम्भिक विवाद निपटाने का कार्य ग्राम पंचायतें करती थीं। इन पंचायतों को न्यायिक और प्रशासनिक सभी अधिकार प्राप्त रहते थे। पंचायत ( पूग ) के निर्णय के विरुद्ध राजा के पास अपील की जा सकती थी ( नीतिवाक्यामृत, २८.२२ )।

राजा का न्यायालय सर्वोच्च होता था। किसी भी न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध लिखित अपील पेश करनी पड़ती थी ( वसुदेवहिंडी—लिहियं से वयणं संभोइधो य )। गणराज्यों में अभियोग की प्रारम्भिक जांच विनिचचय महामात का न्यायालय करता था। इसके बाद क्रमशः अपील राजा ( गणराज्य का अध्यक्ष ) के पास तक की जा सकती थी। अन्तिम न्यायालय में अपराधी का सही पता लगाना आवश्यक होता था। क्योंकि राजा से न केवल सही निर्णय की अपेक्षा की जाती थी अपितु राज्य में शान्तिपूर्ण वातावरण की अपेक्षा भी की जाती थी ( नीतिवाक्यामृत, छान्दो० ५.११.५. )

राजतंत्र में फौजदारी अभियोग मंत्रिपरिषद् अथवा राजा के समक्ष प्रस्तुत किये जाते थे ( पद्मपुराण ) जबकि गणराज्यों में इस पर कुल न्यायालय विचार करता था। अधिकार प्राप्त पूग—जनपद न्यायालय भी प्रारम्भिक जांच कर सकते थे ( अंगुत्तर०, ख० ३, पृ० ७६ )।

किसी अभियोग की सुनवाई कितने न्यायाधीश करें, इस पर शास्त्रकारों ने तीन, पाँच और सात की संख्या नियत की है ( नीतिवा०, मनुस्मृति )। न्यायकार्य सही एवं निष्पक्ष हो एतदर्थ न्यायाधीशों को पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त रहती थी। न्यायकार्य सदा निष्पक्ष होता था, फिर भी न्यायाधीश के लिए कानून का ज्ञाता एवं समदृष्टि इन दो गुणों से युक्त होना आवश्यक माना जाता था। यदि न्यायाधीश न्यायकार्य में असावधानी करता अथवा प्रतिवादी को बारम्बार झिड़कता तो ऐसे न्यायाधीश पर दंडविधान की भी व्यवस्था थी ( अर्थशास्त्र )। न्यायाधीश रिश्वत लेकर गलत निर्णय न देने लगे एतदर्थ उनके पीछे गुप्तचर रखे जाते थे ( यश० चम्पू, अर्थशास्त्र, ४.४ )।

आज की तरह उस समय भी राजकोष में निश्चित फीस जमा हो चुकने के बाद ही किसी वाद को निर्णयार्थ प्रस्तुत किया जा सकता था। न्यायालय में प्रत्येक मामला लिखित रूप में प्रस्तुत होता एवं न्यायाधीश पूर्ण विवरण लिखकर मामले की सुनवाई करता था। राजतंत्र एवं गणतंत्र में न्याय कार्य प्रायः सार्वजनिक रूप से किया जाता था और उसे देखने के लिए जनता उपस्थित रह सकती थी। शाक्यों के संथागार में प्रायः इसी प्रकार से निर्णय किये जाते थे।

कोई व्यक्ति अपराधी है या नहीं, इसकी जांच बड़े कठोरता से की जाती थी। जांच के तरीके बहुत कठिन हुआ करते थे : जैसे—गर्म अंगारे या लोहा स्पर्श करना। रामायणकाल में सीताजी को अग्नि परीक्षा इन्हीं उपायों में

से एक थी। अपराधी की आकृति, भय-विह्वलता एवं कातरता से भी अपराधियों की जांच की जाती थी ( समराइच्चकहा, पृ० ६० )।

सामान्यरूप से अपराधी की खोज साक्षी-प्रमाण एवं जिरह द्वारा की जाती थी। किसी अभियोग की सुनवाई में साक्षी-प्रमाण अनिवार्य और अद्भुत माना जाता था। लेकिन मुकदमे में हर व्यक्ति को साक्षी नहीं बनाया जा सकता था। साक्षीहेतु व्यक्ति का ईमानदार होना आवश्यक था तथा वह आर्त, मत्त, क्रोधी, क्षुधित, पिपासित, कामार्त, तस्कर आदि न हो। आ० सोमदेव ने नीतिवाक्यामृत में लिखा है कि यदि साक्षी उचित ढंग से न हो तो विवाद कभी समाप्त नहीं हो सकता ( भुक्तिः सापवादासाक्रोशः साक्षिणः शासनं च कूटलिखितमिति न विवादं समापयन्ति—नीति० २८.१० )। स्त्रियों के मामलों में स्त्रियों को एवं घर के अंदर घटित घटनाओं में बच्चों की भी साक्षी मान ली जाती थी ( परीक्षामुखसूत्र )। कभी-कभी फौजदारी के मामलों में साक्षी की आवश्यकता ही नहीं होती थी।

साक्षी देनेवाले व्यक्ति को न्यायालय के समक्ष सत्य एवं निष्ठा की शपथ लेनी पड़ती थी। शपथ का तरीका प्रत्येक वर्ण के लिए पृथक्-पृथक् था। ब्राह्मण स्वर्ण एवं जनेऊ को, क्षत्रिय शस्त्र को, वैश्य स्वर्ण एवं पुत्र को तथा शूद्र क्षीर को छूकर शपथ ग्रहण करते थे। ( नीतिवा० २८.३१-३४ )। अपराधी भी यदि अपनी निर्दोषता हेतु शपथ ग्रहण करने का संकल्प करता तो उसे कठिन परीक्षा देकर ही शपथ ग्रहण करने का विधान था। और यह कठिन परीक्षा प्रज्वलित अग्नि स्पर्श तक हो सकती थी।

निश्चित विधि से शपथ ग्रहण हो जाने के बाद संबंधित पक्षों से जिरह की जाती थी एवं उभय पक्षों की दलीलें सुनने के बाद न्यायाधीश अपना निर्णय दिया करता था। लेकिन यदि साक्षियों के कथन में कोई संदेह हो या प्रमाण न मिल रहा हो अथवा परस्पर विरोधी साक्षियाँ हों तो न्यायाधीश को धर्म-विवेक एवं अनुमान से निर्णय करने का अधिकार था। जैन परम्परा में राजा श्रेणिक का महामंत्री अभयकुमार इस प्रकार के विवादास्पद वादों के निर्णय में दक्ष था। यदि परिस्थितिवशात् प्रमाण नष्ट कर दिया गया हो तो न्याय कार्य में दिव्य-प्रमाणों का उपयोग किया जाता था ( देखिये—जैन साहित्य में रोहिण्य चोर की कथा, समराइच्चकहा, पृ० ५६ )।

अभियोग के निर्णय हेतु गोष्ठी आयोजन की चर्चा भी मिलती है। लेकिन

गोष्ठी का आयोजन प्रायः उन्हीं परिस्थितियों में किया जाता था जब न्यायाधीश के प्रति आक्षेप किये जाने की संभावना प्रतीत होती हो (नोतिवाक्या० २६)।

अपराधी को अपनी सफाई हेतु तीन अवसर दिये जाते थे। तीन बार पूछने पर यदि उत्तर प्राप्त नहीं होता तो न्यायाधीश उसे अपराधी घोषित कर देता था। कभी-कभी अपराधी अपराध स्वीकार नहीं करता। ऐसी स्थिति में न्यायालय यातनाएँ देकर तथ्य का पता लगाता था। सम्राट् चन्द्रगुप्त के समय १८ प्रकार की यातनाएँ दी जाती थीं। अभियोग की सही जाँच के लिए यातनाओं की उपयोगिता सर्वमान्य थी।

आज तो अपराध-स्वीकृति मात्र यातना पर हो निर्भर है। अपवाद स्वरूप भले ही कुछ मामले ऐसे हों जहाँ स्वेच्छा से अपराध स्वीकार किया गया हो। इसका एक कारण यह भी है कि आधुनिक न्यायप्रणाली में दुरुहता और दंड की न्यूनता से अपराधियों को किसी न किसी हद तक प्रोत्साहन मिलता रहता है। जैन साहित्य में वर्णित न्यायप्रणाली जो कि कथा-साहित्य में स्पष्ट रूप से यत्र-तत्र परिलक्षित होती है, तत्कालीन सुदृढ़ राजव्यवस्था का आदर्शात्मक प्रतिनिधित्व करती है। क्योंकि एक अच्छे राजशासन की आधारभूत न्यायपालिका की असीमित अधिकार-सीमा में ही सुदृढ़ता के साथ टिक सकती है और न्यायपालिका का अधिकार स्रोत राज्य द्वारा निर्धारित कानून पर अवलम्बित है।





**पावा-समीक्षा** : लेखक—श्री कन्हैयालाल सरावगी; प्रकाशक—अशोक प्रकाशन, कटरा बाजार, छपरा, ( बिहार ) प्रथम संस्करण सन् १९७२ ई०; मूल्य—५ रुपये; पृ०सं० १६ + १४२.

प्रस्तुत कृति में सरावगी जी ने भगवान् महावीर की निर्वाण-भूमि पावा के विषय में काफी प्रमाण इकट्ठे किये हैं। लेखक ने इन प्रमाणों का तटस्थरूप से विवेचन कर परंपरागत पावा को, जो कि पटना जिला ( बिहार ) में स्थित है, कृत्रिम ठहराया है और साठियांव-फाजिलनगर ( देवरिया जिला उत्तर प्रदेश ) को वास्तविक पावा सिद्ध किया है। विषय की विवेचना से बरे भी तर्क प्रस्तुत किये गये हैं वे अकाट्य और अत्यन्त श्लाघनीय हैं। वस्तुतः यह प्रथम अवसर है जब भगवान् महावीर के निर्वाणस्थल के बारे में इतना विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इस पुस्तक से पावा सम्बन्धी अनेक भ्रान्तियाँ दूर हो जाएंगी। सही स्थिति की पहचान के लिए एक मानचित्र भी दिया गया है। आशा ही नहीं, पूर्ण विश्वास है कि विद्वत् समाज सरावगी जी के इस प्रयास का हृदय से स्वागत करेगा। छपाई साफ और साज-सज्जा ठीक है। ऐसी पुस्तक को प्रकाश में लाने के लिए लेखक और प्रकाशक को अनेक बधाइयाँ।

**जैन लक्षणावलि** (जैन पारिभाषिक शब्दकोश) प्रथम भाग : सम्पादक—बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, प्रकाशक—वीर सेवा मन्दिर २१, दरियागंज, दिल्ली ६, मूल्य—पच्चीस रुपये, पृष्ठ ३१२ + ८७ + २२ सजिल्द।

किसी भी धर्म या दर्शन का अध्ययन करते समय उसके पारिभाषिक शब्दों का सही ज्ञान होना आवश्यक है, क्योंकि उनका उस शाखा में विशिष्ट अर्थ होता है। जैन पारिभाषिक शब्दों का प्रचलित अर्थज्ञान करना उसके अध्येताओं के समक्ष सदैव एक गम्भीर समस्या रही है।

प्रस्तुत लक्षणावली में विद्वान् सम्पादक ने जैन साहित्य के अध्येताओं की कठिनाई को ध्यान में रखकर जैन परम्परा के करीब चार सौ संस्कृत-प्राकृत ग्रन्थों से विशिष्ट शब्दों का चयन करके उनका प्रचलित अर्थ स्पष्ट किया है। जैन परम्परा में इस प्रकार के शब्दकोश की काफी समय से आवश्यकता अनुभव की जा रही थी। प्रस्तुत कृति से जैन साहित्य के अध्येताओं को बहुत सहायता प्राप्त होगी। प्रकाशक की योजनानुसार इसका

प्रकाशन तीन भागों में किया जाना है। प्रस्तुत भाग में अ से औ तक (स्वर) शब्दों का संकलन किया गया है। अध्येताओं की सुविधा के लिए सम्पादक ने ८७ पृष्ठ की विस्तृत प्रस्तावना में १०२ ग्रंथों का परिचय तथा जैन परम्परा में प्रयुक्त होने वाले कतिपय शब्दों का (ग्रंथानुगत) विशिष्ट अर्थ प्रस्तुत किया है। अन्त में ग्रन्थानुक्रमणिका भी दी गई है। मुद्रण कार्य बहुत अच्छा हुआ है।

साम्यशतक तथा समताशतक : लेखक—श्री विजयसिंह सूरि तथा श्री यशोविजय, प्रकाशक—जैन साहित्य विकास मंडल, वीले पारले, बम्बई ५६ (A. S.), मूल्य—दो रुपये, पृष्ठ—६४.

प्रस्तुत संग्रह में दो लेखकों की रचनाएं संकलित हैं। संस्कृत भाषा में निबद्ध साम्यशतक में १०६ पद्य गुजराती अनुवाद सहित तथा समताशतक में गुजराती पद्यानुवाद सहित १०५ पद्य हैं। दोनों ही रचनाओं में आत्मशान्ति प्राप्ति के मार्ग का साङ्गोपाङ्ग विवेचन किया गया है। संस्कृत पद्यों की भाषा सरल, सुबोध और सरस है। पद्यों की वर्णानुक्रमणिका भी दी गई है। गुजराती अनुवाद के साथ-साथ हिन्दी अनुवाद भी दिया गया होता तो पुस्तक की उपयोगिता में निश्चय ही वृद्धि होती। कागज और मुद्रण कार्य अच्छा है लेकिन गेट-अप साधारण है।

पंचपरमेष्ठी मंत्रराज ध्यानमाला तथा अध्यात्मसारमाला (मूल) : लेखक—कविराज नेमिदास रामजी शाह, संशोधक—पद्म्यास श्री भद्रंकर विजय गणिवर, प्रकाशक—उपरोक्त, मूल्य—दस रुपये, पृष्ठ—२८१, अजिल्द।

प्रस्तुत कृति में पंचपरमेष्ठी का माहात्म्य और ध्यान साधना विधि का गुजराती भाषा में विशद विवेचन किया गया है। प्रारम्भ में गुजराती पद्यों में सात ढाल हैं जिनमें परमेष्ठी की महानता का वर्णन है। तदुपरान्त पंचपरमेष्ठी की ध्यानविधि, ध्यान के प्रकार, व्येयं, ध्याता आदि की चर्चा के साथ प्रसङ्गानुसार तत्त्वचर्चा भी की गई है। प्रतिपाद्य विषय को सुबोध और सरस बनाने की दृष्टि से चित्रों का भी समावेश किया गया है। इस विषय पर गुजराती भाषा में अब तक प्रकाशित सभी पुस्तकों में यह परिपूर्ण और श्रेष्ठ है। मुद्रण कार्य, कागज और गेट-अप संतोषजनक है।



**V A R D H M A N**

**VSM**

**Quality Hosiery Cotton Yarn**

*For*

● **BETTER STRENGTH**

● **ELEGANCE**

● **ECONOMY**

**Exporting Cotton Yarn to Eastern &**

**Western Countries.**



*Manufactured by :*

**VARDHMAN SPINNING & GENERAL MILLS LTD.**

**LUDHIANA ; ; INDIA**

**Gram ; "VARDHMAN"**

**Tele : 4801  
4802**

*F O R*

**DRAUGHTSMEN AND ENGINEERS**

**REKHA DELUXE**

DRAWING PENCILS EQUAL TO THE  
WORLD'S BEST

*Manufactured by :*

**LION PENCILS PRIVATE LIMITED**

**'PARIJAT', 95, MARINE DRIVE**

**B O M B A Y—2**

## हमारे महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

1. **Jaina Psychology—**  
Dr. Mohan Lal Mehta—Rs. 8-00  
( Out of Print )
2. **Political History of Northern India from  
Jaina Sources—**Dr. Gulab Chandra Chou-  
dhary—Rs. 24-00
3. **Studies in Hemacandra's Desinama-  
mala—**Dr. Harivallabh C. Bhayani—Rs. 3-00
4. **Jaina Culture—**Dr. Mohan Lal Mehta—Rs. 10-00
5. **Jaina Philosophy—**Dr. Mohan Lal Mehta—  
Rs. 10-00
६. प्राकृत भाषा—डा० प्रबोध बेचरदास पंडित— र० १-५०
७. जैन आचार—डा० मोहनलाल मेहता— र० ५-००
८. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास-भाग १—  
पं० बेचरदास दोशी— र० १५-००
९. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास-भाग २—  
डा० जगदीशचन्द्र जैन व डा० मोहनलाल मेहता— र० १५-००
१०. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास-भाग ३—  
डा० मोहनलाल मेहता— र० १५-००  
(उत्तर-प्रदेश सरकार द्वारा १५०० र० के पुरस्कार से पुरस्कृत)
११. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास-भाग ४—  
डा० मोहनलाल मेहता व प्रो० हीरालाल कापड़िया—र० १५-००
१२. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास-भाग ५—  
पं० अंबालाल शाह— र० १५-००
१३. बौद्ध और जैन आगमों में नारी-जीवन—  
डा० कोमलचन्द्र जैन— र० १५-००
१४. जीवन-दर्शन—श्री गोपीचन्द्र धाड़ीवाल— र० ३-००
१५. यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन—डा० गोकुलचन्द्र जैन—र० २०-००  
(उत्तर-प्रदेश सरकार द्वारा ५०० र० के पुरस्कार से पुरस्कृत)
१६. उत्तराध्ययन-सूत्र : एक परिशीलन—डा० सुदर्शनलाल जैन—र० २५-००  
( उत्तर-प्रदेश सरकार द्वारा ५०० र० के पुरस्कार से पुरस्कृत )
१७. जैन-धर्म में अहिंसा—डा० बशिष्ठनारायण सिन्हा— र० २०-००

— लिखिए—

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान

जैन इंस्टिट्यूट

आई. टी. आई. रोड, बाराणसी-५

**Presrite**

**U. F. & M. F. moulding  
Powders**

**Prescol**

**U. F. synthetic resins**

**Plastic Moulds**

**for injection &  
compression moulding**



**The  
Quality Tag  
Renowned Throughout  
the Country**

Nuchem-5

## अन्य महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

1. Lord Mahavira—Dr. Bool Chand	5.00
2. Hastinapura—Dr. Amar Chand	3 00
3. World Problems & Jaina Ethics—Dr. Beni Prasad	0.50
4. Jainism : The Oldest Living Religion—Dr. J. P. Jain	2.00
5. Mahavira—Dr. Amar Chand	0.50
6. Studies in Jaina Art—Dr. U. P. Shah	10.00
7. Jainism in Indian History—Dr. Bool Chand	0.50
8. Progress of Prakrit and Jaina Studies—Dr. B. J. Sandesara	1.00
9. Jaina Monastic Jurisprudence—Dr. S. B. Deo	3.00
10. An Early History of Orissa—Dr. Amar Chand	21.00
11. Literary Evaluation of Paumacariyam—Dr. K. R. Chandra	2 00
१२. जैन दार्शनिक साहित्य के विकास की रूपरेखा—पं० दलसुख मालवणिया	० ५०
१३. जैन संस्कृति का हृदय—पं० सुखलालजी	०.५०
१४. अन्तर्निरीक्षण—पं० सुखलालजी	०.५०
१५. जैन साहित्य की प्रगति—पं० सुखलालजी	१.००
१६. भगवान् महावीर—पं० दलसुख मालवणिया	०.५०
१७. आत्ममीमांसा—पं० दलसुख मालवणिया	० ५०
१८. जैन अध्ययन की प्रगति—पं० दलसुख मालवणिया	२.००
१९. गुजरात का जैनधर्म—श्री जिनविजयजी	१.००
२०. जैन ग्रन्थ और ग्रन्थकार—श्री फतहचन्द बेलानी	२.००
२१. भारत के प्राचीन जैन तीर्थ—डा० जगदीशचन्द्र जैन	२.००
२२. हिन्दू, जैन और हरिजन मन्दिर प्रवेश—श्री पृथ्वीराज जैन	१.००
२३. जीवन में स्याद्वाद—श्री चन्द्रशंकर शुक्ल	१.००
२४. हेमचन्द्राचार्य का शिष्यमण्डल—डा० भोगीलाल सांडेसरा	०.५०
२५. मगध—श्री बैजनाथ सिंह 'विनोद'	१.००
२६. सुवर्णभूमि में कालकाचार्य—डा० उमाकान्त शाह	१.००
२७. स्वाध्याय—महात्मा भगवानदीन	२.००
२८. महाभारत वस्तुपाल का साहित्य मण्डल और संस्कृत साहित्य में उसकी देन—डा० भोगीलाल सांडेसरा	४.००

--लिखिए--

**पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान**

जैन इंस्टिट्यूट

आई. टी. आई. रोड, वाराणसी-५